वीर शिरोमणि—दुर्गादास

धर्म और जाति की रक्षा के लिए समय-समय पर जिन वीरों ने भारत माता की गोद में जन्म लिया और अपने पावन कर्तव्य का पालन करने में सर्वस्व के साथ जीवन तक बलिदान कर दिया, उनमें वीर दुर्गादास का बहुत ऊँचा स्थान है। इतिहास में जो तलवार के धनी योद्धा, नायक आगे दिखलाई देते हैं, उनमें वह संख्या उन्हीं की है, जो या तो राजा थे या राजकुमार, और ये अधिकतर अपने ही भू-खंड की रक्षा-स्वतंत्रता अथवा आन-बान-शान, यश, गौरव और अभिमान के लिए मैदान में आये और अपना जौहर दिखलाकर अस्त हो गये। उनके बलिदान अथवा वीरता की निष्पक्ष विवेचना की जाए, तो उनके कर्तृत्व के पीछे उनका आत्म-व्यक्तित्व किसी न किसी अंश में सक्रिय रहा दिखलाई पड़ेगा।

वीर दुर्गादास एक ऐसे नायक थे, जिनका सारा कर्तृत्व, कर्तव्य और संपूर्ण जीवन परस्वार्थ, परसेवा और परोपकार की पवित्र वेदी पर बलिदान होता रहा। वे न राजा थे और न राजकुमार। न उनका कोई पैतृक राज्य था और न बाद में ही उन्होंने कोई भू-खंड अपने अधिकार में करके उस पर अपना राजतिलक कराया। जबकि उन्होंने अपने बाहुबल और बुद्धिबल से संपूर्ण मारवाड़ को स्वतंत्र कराया, मुगलों से तमाम जागीरें छीन लीं और दिल्ली के बादशाह औरंगजेब को नीचा दिखाकर आर्य धर्म की पताका ऊँची कर दी। आगामी मुगल बादशाहों के होश इस सीमा तक ठिकाने कर दिये कि भारत में धार्मिक अथवा जातीय अत्याचार का चक्र बंद हो गया और हिंदू-मुसलमानों के बीच समान गौरव की स्थापना हो गई।

वीर दुर्गादास एक साधारण सेनानायक के पुत्र थे और आजीवन, बड़ी-बड़ी विजय पाकर भी सिपाही बने रहे। न उन्होंने कभी राज्य का लोभ किया और न राजपद का। वे योद्धा होकर भी जन सेवक और नायक होकर भी अपने को नगण्य बनाये रहे। कार्य व्यस्तता और संघर्ष की आँधी में वीर दुर्गादास के जीवन में कभी

कोई ऐसा समय आया हो, जब उन्होंने बैठकर विश्राम की साँस ली हो, इतिहास में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। घोड़े की पीठ ही उनका निवास एवं विश्राम स्थान था, तलवार ही उनकी पारिचारिका और कर्तव्यनिष्ठा ही उनकी तृप्ति थी। आजीवन कृपाण-पाणि रहते हुए भी वे सघनतम घमासानों के बीच भी अपने उदात्त मानवीय चरित्र की रक्षा करते रहे। जहाँ उन्होंने परपीड़क अनाचारियों को धरा-धाम से उठा-उठाकर पृथ्वी का भार हल्का किया, वहाँ किसी शरणागत, असहाय अथवा निःशस्त्र शत्रु के प्रति दया-दाक्षिण्य का व्यवहार करने में भी संकोच अथवा संकीर्णता न दिखलाई। उनका युद्ध मुगलों के विरुद्ध राजपूतों का न होकर अनाचार के विरुद्ध मानवता का संघर्ष था। राजमद के विरुद्ध जन-ज्वाला और विस्तार के विरुद्ध स्वाधीनता की अभिव्यक्ति थी। दुर्गादास वीर होकर भी विनम्र, योद्धा होकर भी दयालु और सिंह होकर भी साधु पुरुष थे। वे विजयी होकर भी निरभिमान और समर्थ होकर भी निःस्वार्थ बने रहे। जीवन में कुछ किया दूसरों के लिए किया और जो कुछ पाया दूसरों के हित में दिया। आप आदि में जिस प्रकार एक सैनिक थे, उसी प्रकार अंत में भी एक सामान्य मनुष्य की भाँति अर्जित, यश, वैभव और मान-सम्मान का त्यागकर तीर्थाटन पर चले गये। वीर दुर्गादास का संपूर्ण जीवन भारतीय चरित्र का एक उज्ज्वल उदाहरण माना जा सकता है।

दुर्गादास के पिता आशा करण जोधपुर के महाराज जशवंतसिंह के सेना में एक सामान्य नायक थे। किंतु अपनी वीरता और सत्यनिष्ठा के कारण महाराज जसवंतसिंह के विशेष विश्वास पात्रों में से थे। उज्जैन लड़ाई में आशा करण के मारे जाने पर दुर्गादास, उनका छोटा भाई जसकरण और विधवा माता एक प्रकार से निराश्रित से हो गये। उस समय दुर्गादास की आयु केवल पंद्रह वर्ष की थी और भाई बहुत छोटा था। घर में थोड़ी जमीन के सिवाय कोई बड़ी जमीन-जायदाद नहीं थी।

पिता के न रहने पर कल्याणगढ़ के दूसरे राठौरों ने दुर्गादास की माता को समझाया कि वे दुर्गादास को महाराज जसवंत सिंह के

पास भेजें या स्वयं जाकर आशाकरण के स्थान के लिए प्रार्थना करे। माता अपने पुत्र के स्वाभिमान को जानती थी। तब भी उसने एक बार कह देखने का निश्चय कर लिया और कहा भी—"न हो, बेटा ! महाराज के पास जाकर प्रार्थना कर देखो, शायद तुम्हें तुम्हारे पिता का स्थान मिल जाये, उस पर तुम्हारा हक भी है।"

दुर्गादास ने तुरंत उत्तर दिया—माँ जी, मैं महाराज के पास याचना करने नहीं जाऊँगा। किसी से याचना करना, मैं पुरुष के लिए लज्जा की बात मानता हूँ। जहाँ तक पिता के स्थान पर मेरे हक का प्रश्न है, उस पर मैं अपना हक नहीं मानता। पिता ने अपने गुणों से अपना स्थान बनाया। समय आने पर, अपने गुणों से, यदि मुझमें होंगे, तो मैं अपना स्थान बना लूँगा। पिता के नाम पर ही जीवन और जीविका चलाने वालों को मैं अधिक श्रेय नहीं देता। वैसे मेरी इच्छा जरूर है कि महाराज की सेवा में जाकर पिता के नाम को आगे बढ़ाऊँ। फिर भी मैं उनसे याचना करने नहीं जाऊँगा।"

माता ने कहा—" तुझे यदि जाने में संकोच है, तो मैं महाराज के पास जाकर निवेदन करूँ।" दुर्गादास ने मना करते हुए कहा—यह तो और भी लज्जा की बात होगी। जिसका बेटा समर्थ हो और वह माँ किसी के पास जीविका की याचना करने जाए, तो यह उस बेटे के लिए डूब मरने की बात है। तू चिंता क्यों करती है ? जितनी जमीन अपने पास है, वही बहुत है। जमकर खेती करूँगा, पसीना बहाऊँगा, तो अपनी जमीन सोना उगलने लगेगी। कहीं किसी के पास प्रार्थना लेकर जाने की क्या जरूरत ? महाराज को मेरी सेवाओं की आवश्यकता होगी, तो स्वयं संदेश भेजेंगे। माता बेटे की बात सुनकर संतुष्ट हो गई।

लेकिन तलवार के धनी दुर्गादास को हल उठाने का अवसर न आया। महाराज जसवंत सिंह ने उन्हें अपने पास बुला लिया और अपने पुत्र के समान ही प्यार से रखने लगे। इस प्रकार जब महाराज जसवंत सिंह ने उनके पिता की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की, तो वीर दुर्गादास ने भी महाराज की कृतज्ञता के प्रति आभार रूप में

सर्वस्व तक बलिदान कर, पात्रता प्रमाणित कर देने का संकल्प कर लिया। यह गुणों के प्रति गुणों की विनम्रता थी।

महाराज जसवंत सिंह जोधपुर के राजा ही न थे, मुगल सम्राट् औरंगजेब के प्रधान सेनापति भी थे, जिसे उन्होंने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से निर्भर कर रखा था। महाराज जसवंत सिंह ने पद, प्रतिष्ठा अथवा रक्षा के लोभ से औरंगजेब का सेनापतित्व स्वीकार नहीं किया था, बल्कि इस आधारण में उनका मंतव्य यह था कि वे उस नाते दरबार में रहकर जहाँ हिंदुओं के हित की देख-रेख कर सकेंगे, वहाँ औरंगजेब की अत्याचारी मनोवृत्ति पर नियंत्रण भी रख सकेंगे। साथ ही उसको हिंदू राजाओं से युद्ध के स्थान पर संधिपूर्वक रहने का प्रयत्न कर सकेंगे। उन्होंनें ऐसा किया भी। महाराज शिवाजी से युद्ध के लिए भेजे जाने पर उन्होंने अपनी नीति-कौशल से दिल्ली और पूना के बीच संधि का ही संपादन किया। अपनी इस गंभीर राजनीति के कारण महाराज जसवंत सिंह न केवल मारवाड़ के ही बल्कि संपूर्ण हिंदू जाति के आशा केंद्र माने जाते थे।

किंतु अनाचारी को सदाचार की नीति अनीति जैसी ही लगती है, वह इसलिए कि आसन्न विनाश के कारण उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है। महाराज जसवंत सिंह औरंगजेब को उसके प्रपितामह अकबर की नीति पर लाकर उसका हित साधन करना चाहते थे। किंतु अभागा औरंगजेब विद्वेष की भूमि पर मुगल साम्राज्य के बीज बोने पर तुला था और आखिर अपने अनुचित धर्मांधता के वशीभूत उसने अपने पर वह कलंक ले ही लिया। औरंगजेब के कुकृत्यों के फलस्वरूप बाबर का स्थापित किया हुआ और अकबर तथा जहाँगीर का पोषित किया हुआ मुगल साम्राज्य, एक पीढ़ी भी आगे ठीक से न चल सका और जल्दी ही छिन्न-भिन्न होकर इतिहास के पृष्ठ पर अपनी छाया छोड़कर सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो गया। एक ही कुपुत्र भूत, भविष्यत् की वंश परंपरा को किस प्रकार डुबा देता है ? औरंगजेब इसका एक अच्छा खासा नमूना है।

औरंगजेब को महाराज जसवंत सिंह सह्य न थे। किंतु उनका लोहा इतना गुरु, प्रखर तथा गौरवपूर्ण था कि विवश होकर उसे मान्यता देनी ही पड़ती थी। न तो वह और न कोई दूसरा सरदार, उनसे सीधी टक्कर लेने का साहस कर पाता था। कायर की जब वीर से बिसाती नहीं, तब वह गर्हित कुटिलता पर उतर आता है। इसीलिए तो साहसी शत्रु की अपेक्षा कायर शत्रु से अधिक सतर्क एवं सावधान रहने की नीति का निर्देश किया गया है।

किंतु वीर तो स्वभाव से ही भोला और विश्वासी होता है। महाराज जसवंत सिंह यह न समझ सके कि औरंगजेब अपने उन हितैषी को भी मिटा देना चाहता है, इसीलिए वे उसकी इच्छानुसार बड़े-बड़े भयानक और दुर्गम युद्धों में भी जाते और ईमानदारी से लड़ते रहे। औरंगजेब ने उन्हें इतने युद्धों में उलझाये रखा कि उनकी सेना के साथ सारा शरीर ही जख्मी होकर जर्जर हो गया। किंतु औरंगजेब ने अपना कुटिल क्रम बंद न किया। उन्हें दक्षिण की अशांति स्थिति में नियुक्त किया। फिर लपटों से भरे लाहौर की ओर भेजा और जब देखा कि महाराज जसवंत सिंह ने दोनों स्थानों पर सफलता पा ली, तब काबुल के दुर्गम युद्ध पर भेज दिया।

इस बार महाराज जसवंत सिंह कुछ सोचकर अपने बड़े पुत्र पृथ्वीसिंह को जोधपुर की गद्दी सौंपते गये थे। काबुल के पठानों के साथ महाराज जसवंत सिंह का बहुत दिनों तक बड़ा भयानक संग्राम चला। यद्यपि इस युद्ध में विजय महाराज जसवंत सिंह की ही हुई, तथापि यह विजय बहुत महँगी पड़ी। लगभग सारी सेना तो मारी ही गई, साथ ही उनके दो वीर पुत्र भी खेल गये। आहत महाराज जसवंतसिंह को यह आघात गहरा बैठा और वे उसे सँभालने के लिए पेशावर में रुककर विश्राम करने लगे।

कुटिल औरंगजेब ने इस विषमता का पूरा-पूरा फायदा उठाया और अपने षड्यंत्र को आगे बढ़ाया। उसने पृथ्वीसिंह को अजमेर का विद्रोह दबाने के लिए भेज दिया। पृथ्वीसिंह ने पिता की आन का परिचय दिया और विद्रोह को दबाकर धूम-धाम से वापस आ गया। औरंगजेब का मंतव्य पूरा न हुआ। उसे आशा थी कि अनुभवहीन

पृथ्वीसिंह अजमेर के युद्ध में अवश्य मारा जायेगा। किंतु आशा के विपरीत परिणाम देखकर उसका हृदय भय से भर उठा। वह सोचने लगा कि वह एक सिंह को तो जैसे-तैसे जर्जर कर निर्बल कर पाया था कि यह दूसरा तरुण सिंह तैयार हो गया है। ऐसा लगता है कि न तो दरबार ही इन सिंहों की दहाड़ से खाली हो पायेगा और न जोधपुर का ही राज्य हाथ लगेगा। दो उत्तराधिकारी तो काबुल में मारे ही गये, केवल एक यही बचा है। इसे भी किसी प्रकार यदि समाप्त किया जा सके, तो जसवंत सिंह के साथ उनके वंश का ही कटक कट जायेगा। बस फिर तो पौबारह ही हैं।

लोभी और दुष्ट-इन दो के लिए संसार में कोई भी तो घात अकरणीय नहीं होती। औरंगजेब ने षड्यंत्र को पाप की सीमा तक बढ़ा दिया। उसने विजय के उपलक्ष्य में खिलअत देने के बहाने पृथ्वीसिंह को बुलाया और विष बुझे कपड़े पहनाकर आदरपूर्वक विदा कर दिया। कुमार पृथ्वीसिंह दरबार से निवास स्थान तक भी न जा सका कि रास्ते में ही कपड़ों में लगे घातक विष ने अपना काम कर डाला। जसवंत सिंह का दीप्तमान अंतिम दीपक भी अस्त हो गया। जोधपुर पर औरंगजेब ने अधिकार कर लिया।

महाराज जसवंत सिंह को सूचना मिली, तो उनका आहत हृदय टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अब वे कुछ भी कर सकने की स्थिति में न थे। औरंगजेब के इस विश्वासघात को ईश्वर पर छोड़कर उन्होंने अपने राजपूत सरदारों को बुलाया और एक संदेश देने से पूर्व एक छोटा-सा उपदेश दिया—"दुष्ट की भलाई और अनाचारी का संग करने वाले सज्जन पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता।" फिर वे गंभीर होकर बोले—

"भाइयों ! मैंने जो कुछ औरंगजेब के साथ किया, वह मेरे साथ है और उसने जो कुछ मेरे साथ किया, वह उसके साथ है। इसका न्याय तो वह परमात्मा करेगा। उसी की इच्छा समझकर मैं इन सब बातों पर संतोष किये लेता हूँ। किंतु आप लोगों से जो कुछ कहना है, वह यह कि अब मेरी कर्म लीला समाप्त हो गई है। मारवाड़ मुगलों के अधीन हो गया है। जोधपुर की गद्दी पर भी औरंगजेब ने

अधिकार कर लिया है। गद्दी का उत्तराधिकारी भी अब कोई शेष नहीं बचा। तब भी मैं आप लोगों को अधिकार देता हूँ कि जो वीर पुरुष मातृ-भूमि को स्वाधीन करने के लिए आगे बढ़े, आप सब लोग तन, मन, धन और जन से उसकी सहायता करें और उसी को मेरा उत्तराधिकारी मानकर जोधपुर की गद्दी पर बिठायें, जो उसे स्वतंत्र कराये। वैसे मेरी भाटी और हाड़ी दो रानियाँ गर्भवती हैं। यदि उनमें से किसी को कुमार हो, तब तो उत्तराधिकारी की समस्या ही न रह जायेगी। आप सब लोग उसका पालन करें और रक्षा करते हुए जब वह योग्य हो जायें और जोधपुर स्वतंत्र हो जाये, तब उसे गद्दी पर बिठायें।"

"अब तो मेरी सारी शक्तियाँ प्रशमित हो गई हैं। जब तक शरीर ने साथ दिया, मातृ-भूमि की सेवा में जो कुछ कर सकता था, किया। किंतु अब कुछ भी कर सकने में असमर्थ हूँ। तथापि मैंने मारवाड़ की स्वतंत्रता का जो दीप जलाए रखा, आशा है आप लोग उसे जलाए रखेंगे। साहस, बलिदान और त्याग में बड़ी शक्ति होती है। उसके आधार पर संसार का हर काम संभव बनाया जा सकता है। धरती वीरों और बलिदानी पुरुषों से रिक्त नहीं होती। आप लोगों में से या मातृ-भूमि के किसी कोने पर से कोई न कोई ऐसा वीर पुरुष जरूर उठेगा, जो मारवाड़ को स्वाधीन करने में अपना सर्वस्व लगा देगा। इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है। अपने कर्तव्य से विमुख न होना, ऊँचे आचरण और आदर्श को नीचा न होने देना। संगठित और सम्मिलित शक्ति से शत्रु का मुकाबला करना। स्वार्थ, लोभ अथवा स्पर्धा के गड्ढों से बचे रहना। मेरा आशीर्वाद है, तुम्हारे प्रयत्न, सफल होंगे। ईश्वर तुम्हारे साथ है।"

इसके बाद महाराज जसवंत सिंह ने सरदारों को एक लोहे की बंद पेटी सौंपी और यह निर्देश करके सदा के लिए आँखें बंद कर लीं कि "इस पेटी की रक्षा करना, कभी खोलकर यह देखने की जिज्ञासा मत करना कि इसमें क्या है ? जिस समय जोधपुर स्वतंत्र हो जाए और उसके उत्तराधिकारी का राजतिलक हो, उस समय ही इसको खोलना और जो उचित हो वह करना।"

महाराज जसवंत सिंह की इस करुण कथा की परिसमाप्ति से दुर्गादास की वीर गाथा का प्रारंभ होता है। दुर्गादास ने जब से होश सँभाला, तब से वे मुगलों के अन्यायपूर्ण अत्याचार को देखते आ रहे थे। महाराज जसवंत सिंह के पास आने पर तो वे उसका पग-पग पर अनुभव भी करते आ रहे थे। जो कुछ सुधार और न्याय के लिए प्रयत्न चल रहे थे, उसमें वे साथ देते आ रहे थे। किंतु अब जब उन्होंने कृतघ्न औरंगजेब के विश्वासघात को और उसके परिणामस्वरूप मारवाड़ की स्वाधीनता और महाराज जसवंत सिंह का कारुणिक अंत देखा, तो उनके हृदय की भावनाओं में एक क्रांति जाग उठी। उन्होंनें सोचा कि इस प्रकार के सहज प्रयत्नों से न्याय तथा स्वाधीनता की आशा नहीं की जा सकती। उसके लिए संपूर्ण शक्ति, साहस और संगठन के साथ अभियान चलाना होगा। अन्याय के विरुद्ध जमकर लोहा लेना होगा और वह हर बलिदान देना होगा, सफलता के लिए जिसकी अपेक्षा है। मैं अंतरस्थ ब्रह्म की साक्षी में अपनी आत्मा की प्रेरणा से यह महनीय उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि देश, धर्म और जाति के मंगल और भारतवर्ष के पवित्र वातावरण में परिव्याप्त अन्याय और अत्याचार को मिटाने में अपना अंग-क्षण बलिदान कर दूँगा। आज से हमारा घर कर्म-भूमि होगी और हमारा कर्म ही हमारा जीवन होगा।" संपूर्ण मन और आत्मा से पुण्य-प्रतिज्ञा करते ही दुर्गादास ने अनुभव किया कि उनके अंतःकरण में प्रेरक देवत्व की स्थापना हो गई है और वे संसार के हर माया-मोह, लोभ, प्रलोभन, सुख, दुःख से रहित होकर जीवन मुक्त हो गये हैं। उनके मुखमंडल पर एक अनिवर्चनीय दीप्ति आ गई और उनके बाहु-वीर विभूतियों से भरकर अन्याय या अत्याचार का उन्मूलन कर देने के लिए फड़क उठे। उन्होंने आगे बढ़कर बलिदान पथ पर सर्वाग्र स्थान अंगीकार किया और दूसरों ने सम, समान और सहर्ष भाव से उनका अनुगमन।

समय पाकर भाटी और हाड़ी रानी के दो पुत्र उत्पन्न हुए। छोटे का नाम दलथंभन और बड़े का नाम अजीतसिंह रखा गया। यह समाचार औरंगजेब को मिला, तो उस स्वार्थी का हृदय जल उठा।

उसने सोचा कि अब तो जोधपुर की गद्दी के दो-दो वारिस पैदा हो गये हैं, जोधपुर उन्हें सौंपना होगा और यदि ऐसा न किया तो इस प्रश्न पर पूरे भारत के राजपूत व राजपूत राजे एक मंच हो जायेंगे और तब उनको न केवल दबाना ही कठिन हो जायेगा बल्कि इस बहाने वे सब संगठित होकर अजेय शक्ति बनकर सल्तनत के लिए खतरा पैदा कर देंगे। हिंदुओं में फूट पड़ी ही रहनी चाहिए, इसी बल पर तो मुगलिया तख्त और इसलामी परचम हिंदुस्तान में कायम है। यदि किसी वजह अथवा बहाने हिंदुओं की फूट दूर हो गई तो फिर वह अपनी जमीन का चप्पा-चप्पा आजाद करा लेंगे।

इस दूरदर्शिता से सोचने के बाद उसने उन दोनों राजकुमारों को दिल्ली बुलावा भेजा। उसने कहलाया कि महाराज जसवंतसिंह हमारे वफादार दोस्तों में थे। खुदा के फज़ल से उनके खानदान का बुझा चिराग फिर जल उठा है, इसलिए उनके इन बेटों की परवरिश और हिफाज़त करना हम अपना फर्ज समझते हैं। मेरा ख्याल है कि दोनों बच्चों की देख-रेख पेशावर के बजाय दिल्ली में बहुत अच्छी तरह हो सकती है।

औरंगजेब की इस सहानुभूति में कौन-सा घातक मंतव्य छिपा हुआ है, दुर्गादास इससे अनभिज्ञ न थे। औरंगजेब के स्वभाव के विषय में धोखा खाना अब दुर्गादास के लिए संभव न था। संदेश पाते ही उन्होंने समझ लिया कि बादशाह बच्चों को अपने समीप बुलाकर और अवसर पाकर उन्हें नष्ट कर देने के विचार में है। तथापि उस समय स्थिति ऐसी नहीं थी कि औरंगजेब की इस कुटिल सहानुभूति की अवहेलना की जा सकती। दुर्गादास ने दूसरे साथियों के साथ परामर्श करके यह मत स्थिर किया कि बच्चों को दिल्ली ले जाकर रखा जाये और हर समय सतर्कतापूर्वक उनकी रक्षा में तत्पर रहा जाये। खतरा उत्पन्न होते ही जान पर खेलकर उन्हें दिल्ली से बाहर निकालकर कहीं छिपा दिया जाये, जैसे पहले उदयपुर, मेवाड़ के उत्तराधिकारी उदयसिंह की रक्षा की गई थी।

वीर दुर्गादास रानियों, राजकुमारों और विश्वस्त साथियों को लेकर दिल्ली की ओर चल दिए। पेशावर और पंजाब की भयानक

सर्दी और यात्रा की असुविधा—छोटा राजकुमार दलथंभनसिंह ठंड खा गया और बहुत कोशिश के बाद भी बचाया न जा सका। शेष लोग दिल्ली पहुँचे और रूपसिंह उदावत नाम के एक राजपूत सरदार के आश्रम में ठहर गये। दुर्गादास सारे समाचार लेकर औरंगजेब के पास गये।

बादशाह ने समाचार सुने और फिर गहरी सहानुभूति के साथ बोला ! भाई दुर्गादास ! तुम जानते ही हो कि जसवंतसिंह मरहूम का बड़ा बच्चा रास्ते में ठंड खाकर मर गया। अगर में तुम्हारी मुस्तैदी और वफादारी को न जानता होता तो शायद तुम पर लापरवाही का इलजाम आता और तुम्हें सजा का मुश्तरिक होना पड़ता। लेकिन नहीं, तुम एक अच्छे और नेक आदमी हो। अपना फर्ज पूरी तरह अदा किया है। दलथंभन खुदा की मरजी से कुदरत का शिकार बन गया है। उसके लिए तुम्हें जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता है। तुमने, हिफाज़त और रास्ते की सही-सलामती के लिए जो कुछ कर सकते थे किया। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ और तुम्हारे लिए न सिर्फ एक बड़ा इनाम ही अदा करूँगा, बल्कि कुछ दिन ठहरकर जागीर भी बख्शूँगा।"

इस मोहक भूमिका के बाद औरंगजेब अपने असली मतलब पर आया और बोला—"ठाकुर ! अब ऐसा करो—अजीतसिंह को मेरे पास छोड़ जाओ। मैं महाराजा जसवंतसिंह के इकलौते नूर को अपनी आँखों के सामने रखकर शाही महल में उसकी परवरिश करना चाहता हूँ। वह हमारे शहजादों के साथ खेल-खाकर बड़ा होगा, उन्हीं के साथ सल्तनत का कारोबार और सियासत के दांव-पेच सीखेगा। जब बालिग हो जायेगा तो उसे जोधपुर की गद्दी पर नशीन करा देंगे। इस तरह मैं अपने मरहूम दोस्त के लिए अपने फर्ज को पूरा कर सकूँगा और तुम नाहक जहमत से बचकर आजादी से अपना काम-काज देख सकोगे।"

दुर्गादास बादशाह का कथन सुनता रहा और मन ही मन कहता रहा—रे मूर्ख आततायी ! मैं तेरी इस मधुर सहानुभूति में बसे विष को अच्छी तरह समझता हूँ। शायद तू मुझे अपने स्तर का ही

व्यक्ति समझ रहा है, जो इनाम-जागीर का लालच दिखाकर कर्तव्यच्युत करने की आशा कर रहा है। लेकिन याद रख, मैं आर्य वीर हूँ—संसार का कोई भी प्रलोभन, कोई भी भय और कोई भी परिस्थिति मुझे कर्तव्य भ्रष्ट नहीं कर सकती। जब तक शरीर में एक श्वास और रक्त की एक बूँद बनी रहेगी, राजकुमार को तेरी हिंसालु छाया में न जाने दूँगा और फिर प्रकट में कहा—

"बादशाह सलामत का ख्याल बड़ा नेक और गरीब परवर है, लेकिन मैं यहाँ पर इसी वक्त अपनी तरफ से कोई जवाब नहीं दे सकता। मुझे इसके बाबत रानियों से पूछना होगा। कुछ मोहलत दी जाये।" औरंगजेब ने तीसरे दिन जवाब के लिए कहकर दुर्गादास को विदा कर दिया।

दुर्गादास निवास पर वापस आये और रानियों समेत सभी साथियों को पूरी बात बता दी। औरंगजेब का अनुरोध सुनकर राजपूतों के हाथ तलवार पर पहुँच गये। लेकिन दुर्गादास ने समझाकर कहा कि यह समय उत्तेजना अथवा संघर्ष का नहीं है। हम सब राज-परिवार के साथ उस अजगर के मुँह में बैठे हैं। इस समय तो शांति और नीति से ही काम लेकर काम बनाना होगा। कल तक का समय है। किसी तरह राजकुमार को दिल्ली से बाहर निकालकर सुरक्षित तथा गुप्त स्थान पर पहुँचाने का प्रबंध किया और उसके स्थान पर कोई दूसरा बच्चा लाकर रखा जाये। बाद में मैं परसों जाकर बादशाह से बात कर लूँगा।"

परस्पर परामर्श के बाद आनंददास खेची नाम का एक बुद्धिमान् सरदार दूसरे दिन भी पौ फटने से पहले एक सपेरे को ले आया। सपेरे के साथ अपना बच्चा था, जो अजीतसिंह के बराबर ही होगा। सपेरे ने अपना बच्चा रानी को दे दिया और राजकुमार को साँप वाली पिटारी में छिपाकर आनंददास खेची के साथ चल दिया। चलते समय दुर्गादास ने सपेरे को धन्यवाद दिया और कहा—आशा है, आप यह बलिदान खुशी-खुशी कर रहे होंगे और कभी भी यह रहस्य अपने जुबान पर नहीं लायेंगे। सपेरे ने कहा—ठाकुर साहब, देश-धर्म और राज-वंश की रक्षा में यह बलिदान तो क्या इससे भी

बड़ा कोई बलिदान होता तो भी मैं खुशी-खुशी कर देता। मैं राजकुमार को यथा-स्थान पहुँचाकर दिल्ली से दूर, बहुत दूर किसी ऐसे स्थान पर चला जाऊँगा, जहाँ न तो इस बात की चर्चा होगी और न कोई मुझे पहचान ही सकेगा।

दुर्गादास सपेरे की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और मोहरों का एक तोड़ा निकालकर सपेरे को देने लगे। सपेरा थोड़ी देर तो उनका मुँह देखता रहा फिर ग्लानिपूर्वक बोला—राजा साहब ! क्या आप मेरी गरीबी देखकर मेरे बलिदान की कीमत देना चाहते हैं। जरा सोचिए तो कि क्या बेटे की कीमत अशरफियों से चुकाई जा सकती है ? शायद आपके अभी बेटा है नहीं, इसलिए यह बात समझ नहीं पा रहे हैं। मैंने बेटे को धन के लालच में खतरे में नहीं डाला। मैं तो उसके मूल्य पर ठीक उसी प्रकार राजकुमार को बचाना चाहता हूँ जिस प्रकार दाई पन्ना ने अपने बेटे का बलिदान देकर मेवाड़ के उत्तराधिकारी की जान बचाई थी। यदि तोड़ा दिखलाकर आपने मेरी भावना का अपमान न किया होता तो शायद मुझे दुःख न होता !" सपेरे की बात सुनकर वीर दुर्गादास की आँखें लज्जा से नीची हो गईं। उन्होंने क्षमा माँगते हुए कहा—"बेशक, कुछ जल्दी और परेशानी में मुझसे यह भूल हो गई है। मैं बहुत लज्जित हूँ। आशा है, आप मेरी यह गलती क्षमा कर देंगे।" कहते-कहते आदर्श वीर दुर्गादास की आँखें गीली हो गईं और आत्म-ग्लानि से उनका मुख मुरझा गया। सपेरे ने उनके हृदय की वेदना अनुभव की और हाथ जोड़कर बोला—"नहीं मालिक, इसमें माफी की क्या बात ? हम सब आपकी रियाया और सेवक हैं। अच्छा, अब आज्ञा करिये ! देर हो रही है।"

सपेरा खुशी-खुशी विदा होकर आनंददास खेची के साथ चल दिया और सबेरा होते ही दिल्ली की सीमा से बहुत दूर निकल गया। वहाँ पर एक सुरक्षित स्थान पर आनंददास ने सोते हुए राजकुमार को पिटारी से उठाकर गोद में ले लिया और सपेरे को छुट्टी दे दी। अनंतर आनंददास खेची आबू की पहाड़ियों के रास्ते कई दिन की यात्रा और कठिनाइयों को पार करता हुआ मारवाड़ के भीतरी भाग

में बसे डुगवा नामक गाँव में पहुँचा और वह अपने एक मित्र जयदेव के यहाँ राजकुमार को रखकर स्वयं भी उसकी देख-रेख और पालन-पोषण के लिए रहने लगा।

इधर परसों आया और दुर्गादास उत्तर देने के लिए औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए। उन्होंने बादशाह से कहा—"जहाँपनाह ! आपका विचार हम सबको मंजूर है, लेकिन रानी का कहना है कि बच्चा अभी दूध पी रहा है। अभी उसे अकेले नहीं छोड़ा जा सकता। और मैं उसको लेकर मुसलमानी हरम में नहीं रह सकती। यह हमारे पतिव्रत और हिंदू धर्म दोनों के विरुद्ध है। एक साल तक, जब तक कि बच्चे को माँ का दूध जरूरी है, मैं उसे लेकर यहीं रहूँगी और जब उसका दूध छूट जायेगा, तो उसके हित के लिए बादशाह को सौंप दूँगी।" यद्यपि औरंगजेब को यह प्रस्ताव जरा भी पसंद नहीं आया। लेकिन एक तो प्रस्ताव स्वयं उचित था, दूसरे दरबार के खास-खास आदमियों के समर्थन कर देने से वह अपना जी मारकर रह गया और स्वीकृति देकर दुर्गादास को विदा कर दिया। यह पशुता की बुद्धिमत्ता पर विजय थी। दुर्गादास खुशी-खुशी घर आये और जब सबको दरबार की घटना सुनाई, तो सभी उनकी प्रशंसा करते हुए यह आस्था व्यक्त करने लगे कि वीर दुर्गादास के नेतृत्व में अवश्य ही मारवाड़ स्वतंत्र होगा और अनाचार पर मनुष्यता की जीत होगी।

तथापि दुर्गादास ने सबको समझाया कि निश्चिंत रहने की जरूरत नहीं है। औरंगजेब किसी समय भी अपना फन मार सकता है। हर समय, उसकी हर बात और कार्यवाही को ध्यान से देखते हुए सतर्क तथा सावधान रहने की जरूरत है। अपने कर्तव्यों तथा सावधानी में प्रमाद करने वाले बड़े-बड़े धीर-वीर और बुद्धिमान् व्यक्ति भी शत्रु के चंगुल में फँस जाते हैं। इसलिए हम सबको प्रबुद्ध एवं सन्नद्ध रहकर आते और जाते हुए समय का अध्ययन करते रहना चाहिए। सभी साथी और भी अधिक सतर्क और सावधान हो गए।"

"भविष्य के गर्भ में पल रहे संघर्ष के लिए", दुर्गादास ने सोचा, "अभी एक वर्ष का समय है। इस अवधि के बाद जब औरंगजेब

राजकुमार को मांगेगा तभी संघर्ष का सूत्रपात हो जाएगा।" उन्होंने आगे विचार किया—"इस एक वर्ष के मूल्यवान् समय को यों ही प्रमाद अथवा प्रतीक्षा में बिता देना बुद्धिमानी न होगी। इसका एक-एक क्षण भविष्य की तैयारी करने में लगाया जाना चाहिए। जो लोग वर्तमान में ही भविष्य की तैयारी नहीं करते, वे अदूरदर्शी होते हैं और एक तरह से जीवन-पथ पर असफलता के बीज बोने जैसी भूल करते हैं।"

दुर्गादास ने विचार निश्चित किया और जन-जागरण तथा संगठन के काम में लग गये। वे जब-तब बाहर किसी काम को लेकर निकल जाते और गाँव-गाँव घूमकर ऐसे लोगों की खोज करते, जिनके हृदयों में अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध शिखा जल रही होती। ऐसे लोगों को तलाश करते जो देश-धर्म के लिए बलिदान कर सकने का साहस रखते थे। वे ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियों से मिलते और उनसे विचार-विमर्श करते थे, जो क्षेत्रों में अपना प्रभाव रखते थे, उसका जनहित में उपभोग भी करना चाहते थे, किंतु कोई पथ अथवा दिशा नहीं पा रहे थे। दुर्गादास ने गाँव-गाँव और घर-घर की यात्रा कर ऐसे लोगों को जगाया, जो देश, धर्म की महती सेवा कर सकते थे, किंतु अविचार एवं अवज्ञा में पड़े संकीर्ण व्यक्तित्व की परिधि में समय तथा शक्ति को नष्ट कर रहे थे।

वीर दुर्गादास ने ऐसे हजारों नौजवानों को खोज निकाला जो सही नेतृत्व के अभाव में उच्छृंखलतापूर्वक देश-धर्म के नाम पर प्राण देने के लिए कमर कसकर तैयार बैठे थे। अपने भ्रमण काल में दुर्गादास ने देखा कि देश का जनमत वर्तमान अव्यवस्था, अशांति, अरक्षा और अत्याचार के विरुद्ध आकंठ भरा बैठा है, किंतु कर्तव्य के भ्रम में फँसा, अंदर ही अंदर दहक-दहक कर बुझ रहा है। उन्होंने उस शक्ति को आश्वासन दिया और विश्वास देकर विश्वास का विनिमय किया कि वह समय जल्दी ही आ रहा है जब उन्हें कर्तव्याकर्तव्य करने को मिलेगा और तब वे उसके पालन में सर्वस्व देकर भी संतुष्ट न होंगे। वे राजाओं, राजकुमारों, सामंतों, सरदारों, जमीदारों और जागीरदारों से भी मिले और उन्हें जीवन का वह

प्रकाश दिया जिसकी प्रेरणा मनुष्य को निकृष्ट वासनाओं से उछालकर ऊपर उठा देती है। उन्होंनें समाज के उस वर्ग में भी आशापूर्ण नव-जीवन का संचार किया, भय और आतंक जिसका साहस मार चुका था और निराश होकर, जो अन्याय और अत्याचार के प्रति भाग्यवादी बन गया था। उन्होंने आबाल वृद्ध नर-नारी में, यथा संभव साहस, शौर्य, संगठन, आशा और कर्तव्य-भावना का संचार करने में किसी भी उपाय का अनुपयोग नहीं किया। इस संगठन और प्रचार कार्य में उन्होंनें दिन और रात, भोजन और भूख, श्रम और विश्राम, बीहड़, वन, पर्वत, नदी, नाले अथवा मरुस्थल किसी भी कठिनाई की परवाह नहीं की। इस देश-कार्य के लिए उन्होंने बड़ी लंबी-लंबी यात्राएँ की, प्राणों का संकट उठाया। मान, सम्मान और अभिमान को तिलांजलि दे दी और बलात् किसी से अनुगमन भी नहीं कराया, उनकी इस निःस्वार्थ एवं नियुक्त सेवा-काल में उनका घोड़ा और उनकी तलवार ही साथी और संबल बनी रही। तथापि क्रिया की प्रतिक्रिया कर्तव्यशीलों पर हुए बिना न रही। दल के दल वीर स्वयं-सेवक मारवाड़ और राजस्थान के कोने-कोने में निकल गये और उन्होंने वीर दुर्गादास का संदेश तथा उद्देश्य आत्म-धर्म के समान जन-जन के हृदय में भर डाला। पुण्य परिवर्तन की एक जोरदार तैयारी हो गई, जिसके परिणामस्वरूप आगे होने वाले संघर्ष में सफलता-दर-सफलता की परंपरा ही लगती चली गई। समय रहते पहले से तैयार कर लेने पर निर्धारित योजनाओं में सौभाग्य का समावेश होना स्वाभाविक ही होता है। असफलता तो उन अदूरदर्शियों की दातव्यता होती है, जो तैयारी के समय आलस्य एवं उपेक्षा में पड़े सपने देखा करते हैं और कर्तव्य काल में व्यस्तता, व्यग्रता, त्वरा और अव्यवस्था के शिकार बनकर शक्ति तथा संतुलन को जीर्ण-शीर्ण करते रहने पर विवश होते हैं।

दिन-दिन करके औरंगजेब ने वर्ष काटा और तत्काल राजकुमार को लेकर दुर्गादास के आने की प्रतीक्षा करने लगा। इधर दुर्गादास ने अपने सारे साथियों को इकट्ठा किया और कहा—"आज वर्ष व्यतीत हो गया। औरंगजेब राजकुमार को तलब करेगा, लेकिन

मेरा दृढ़ निश्चय है कि राजकुमार के स्थान पर पले इस बच्चे को भी बादशाह को सौंपना नहीं है। इस स्थिति में संघर्ष का सूत्रपात होना निश्चित है। अब आप लोगों में से जिनको प्राणों से मोह हो, वे लोग प्रसन्नतापूर्वक कहीं जा सकते हैं। औरंगजेब की शक्ति बहुत है और हम गिने-चुने दो-ढाई सौ आदमी ही हैं। इस स्थिति में जरा भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि हममें से कोई ऐसा भी बच जाये, जो इसका समाचार लेकर अपने समर्थकों के पास जा सके। इसलिए मैं खुशी से अनुमति देता हूँ, जो आसन्न संघर्ष से अपनी रक्षा करना चाहते हों, जा सकते हैं।"

दुर्गादास का कथन सुनकर सभी एक स्वर में कह उठे—"हमें मृत्यु का भय नहीं है। हम सब एक अबोध बच्चे की रक्षा में अपने जीवन की आहुति दे देंगे। पापी औरंगजेब पालने के बहाने बच्चे को लेकर राजकुमार अजीतसिंह के धोखे में मरवा डालेगा। हम जीते जी उस भेड़िये के मुँह में इस छौने को नहीं जाने देंगे।" वीर दुर्गादास ने हर-हर महादेव की गूँज के साथ सभी वीरों का अभिनंदन किया और कहा—"यदि ऐसा एक मत और एक उद्देश्य है और बलिदान की ऐसी तीव्र भावना है, कर्तव्य के प्रति इतनी दृढ़ निष्ठा है, तो निश्चय ही मैदान अपने हाथ रहेगा, हम अपने मंतव्य में अवश्य सफल होंगे। हाँ, महारानियों की कुछ चिंता जरूर है।"

हाड़ी और भाटी दोनों रानियाँ बोल उठीं—"दुर्गादास ! यह मत भूलो कि हम वीर बालायें हैं। जहाँ एक ओर हमारी सुकुमारता सुख और संपत्ति में भी थक उठती है, वहाँ दूसरी ओर हमारी दृढ़ता पत्थरों से भी लोहा लेने में नहीं हिचकती। इस सुकुमार छौने, हमारे प्यारे पूत की रक्षा का प्रबंध कर दो और फिर एक-एक तलवार हमें देकर निश्चिंत हो जाओ। हम तुम्हारी योद्धाओं में चार भुजाओं की वृद्धि कर देंगी।" दुर्गादास का हृदय करुणा और कृतज्ञता से सरावोर होकर आँखों में छलक पड़ा और योद्धाओं के मुख से अनायास ही रानियों का जयकार गूँज उठा। हवेली का वायुमंडल बलिदान की भावना से भरकर स्थिर हो गया।

रूपसिंह उदावत ने बच्चे को लिया और सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के लिए न जाने हवेली के किस रास्ते गायब हो गया ? दुर्गादास और उसके सहयोगी मोर्चों की रूपरेखा बनाते हुए रूपसिंह की प्रतीक्षा करने लगे। सभी किसी भी समय युद्ध के लिए तैयार बैठे थे।

कुछ देर बाद रूपसिंह उदावत वापस आया और समाचार दिया कि "बच्चे को ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया गया है, जहाँ शत्रुओं के देवता भी उसका पता नहीं लगा सकते और जल्दी ही वहाँ से अपने पिता के पास पहुँच जायेगा। अब बादशाह सलामत ले लें अजीतसिंह को।" इस समाचार की झलक अभी किसी के चेहरे से जा न पाई थी कि हवेली के बाहर से आदमियों का कोलाहल, हथियारों की झन-झनाहट और शहर कोतवाल फौलाद खाँ का कर्कश स्वर सुनाई पड़ा—"दुर्गादास, अजीतसिंह को लेकर फौरन मेरे साथ चलो। बादशाह सलामत ने अभी याद फरमाया है।"

वीर दुर्गादास हँसते हुए उठे और सरदारों से यह कहते हुए बाहर की ओर चल दिये—"बहादुरों सँभल जाओ। चंडी शृंगार कर चुकी है, अब तांडव होने वाला है। एक साथ ही दो-ढाई-सौ तलवारें म्यान से बाहर निकलकर चमक उठीं।

वीर बाहर, सिंह द्वार पर आया और देखकर बोला—" ओ हो ! कोतवाल साहब ! इतने ढेर आदमी हथियार लेकर मुझे लेने आए। कितने होंगे ?" कोतवाल फौलाद खाँ ने बड़े गर्व से कहा—"दो हजार।"

'दो हजार', दुर्गादास ने संख्या दोहराई और कहा—"फौलाद खाँ ! यह तो लड़ाई की चुनौती जैसी बात है—अब न मैं आऊँगा और न राजकुमार अजीतसिंह। जाकर अपने बादशाह से कह दो।"

फौलाद खाँ चीखा—"हमला करो ?" दो हजार मुगल सिपाही द्वार में उमड़ पड़े और दो राजपूतानी और ढाई सौ राजपूत उन पर व्याघ्र वेग से टूट पड़े। घमासान युद्ध प्रारंभ हो गया। दोपहर आई, दिन ढला और और शाम हो गई। एक घड़ी रात होने पर लड़ाई रुकी। आठ सौ मुगलों को मारकर दोनों रानियाँ और सारे राजपूत

गिर गये थे। फौलाद खाँ ने हवेली का कोना-कोना छान मारा, पर अजीतसिंह का पता न मिला। वह अपनी इस भयंकर हानि और असफलता से घबराकर बादशाह को समाचार देने के लिए भाग खड़ा हुआ। बचे हुए घायल मुगलों ने भी उसका पीछा किया।

आधी रात के समय जब ज्योत्सना की शीतलता से परिपूर्ण वायु चलने लगी, तब घायल पड़े दुर्गादास की चेतना लौटी। वे अपने को सँभालकर उठ खड़े हुए और वहाँ पड़े राजपूत सरदारों को टटोल-टटोल कर यह देखने लगे कि क्या उनकी तरह कोई और भी आहत शरीर में प्राणों को रोके हुए है ? दुर्गादास के आशापूर्ण व्यवहार से उन ढाई सौ आहतों में से मोहकमसिंह, भोजराज, रूपसिंह, महासिंह और दूधोजी नामक पाँच राजपूतों ने आँखें खोल दीं। वीर दुर्गादास ने सबको सहारा देकर उठाया और कहा—"ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद है, जो आप लोग फिर से चैतन्य हो गये। मेरे कारण आप सबको हताहत होना पड़ा है। इसका मुझे बड़ा दुःख है।"

राजपूत सरदारों ने कहा—"दुर्गादास ऐसा मत कहो। हमारी इस सेवा और इस रक्त दान में तुम्हारी प्रेरणा तथा प्रकाश अवश्य है, किंतु इसका मुख्य कारण हमारी अपनी भावना है, हमारा देश-प्रेम और धर्म के लिए उत्सर्ग हो जाने का उत्साह है। हमारे रक्तपात के लिए अपने को उत्तरदायी मानकर दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। अब आगे का कार्यक्रम निश्चित करो और बताओ कि किस दिशा में क्या करना है ? शरीर में जब तक एक बूँद रक्त और प्राण-रक्षिणी एक भी श्वास बनी रहेगी, हम अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोहा लेते ही रहेंगे।

इसके पहले कि दुर्गादास कुछ कहते, वयोवृद्ध दूधोजी ने कहा—"अब रात ढलने वाली है। समय बहुत कम रह गया है। आप सब लोग तुरंत दिल्ली से दूर चले जाएँ। सुरक्षित स्थानों पर रहकर अपने घाव पूरे करिये और संगठन तथा सद्भावना को आगे बढ़ाइये। किंतु मेरी चिंता जरा भी न करें। मुझे मर्मांतक घाव प्राप्त हुए हैं। मेरा जीव जल्दी ही शरीरांतर के लिए चल देगा। निश्चय ही

इस जीवन की, मेरी देश-सेवाओं की इतिश्री हो गई है। अब जल्दी ही भगवान् से दूसरा ऋण लेकर भगवत् धर्म की सेवा के लिए इसी भूमि, इसी धराधाम और इसी भारतवर्ष में आ जाऊँगा। लेकिन आप लोग जल्दी ही निकल जायें, क्योंकि लाशों का प्रबंध करने के लिए औरंगजेब के सिपाही आते ही होंगे।" कहते-कहते दूधोजी ने सबको राम-राम, जुहार की और उसी पवित्र भूमि पर लेटकर अनंत यात्रा की ओर प्रस्थान कर दिया। जीवित राजपूतों की अश्रुमाला ने उन वृद्ध बलिदानी को श्रद्धांजलि देकर अपना कर्तव्य निश्चित किया।

दो राजपूत सरदारों ने बैकुंठगामिनी रानियों के रक्तोर्चित शरीर निर्माल्य माला की भाँति आदरपूर्वक उठाकर माथे से लगाये, और कंधों पर धारण कर चलने को उद्यत हुए। युद्ध में पकड़ी हुई तलवारें रानियों की मुट्ठी में अब तक जकड़ी हुई थीं। एक सरदार उनको छुड़ाने का प्रयत्न करने लगा—वीर दुर्गादास ने निषेध करते हुए कहा—"रहने दो ठाकुर ! देवियों का दाह इस शृंगार के साथ ही शोभा देगा।" अनंतर सबने रणस्थली को नमस्कार किया और अभीष्ट दिशा की ओर पुरुषार्थ की भाँति वेगपूर्वक अग्रसर हो चले।

प्रभात होते ही मुगलों ने हवेली में आकर अपने अनुरूप, जो कुछ करना था किया, किंतु घायल राजपूत सरदार मार्ग की प्रत्येक कठिनाई को सहते हुए उत्साहपूर्वक चलते ही रहे और अंत में उन्होंने आबू की पहाड़ियों में ही जाकर अपनी प्रगति को पड़ाव दिया। वहीं उन्होंने रानियों के शरीर अग्निदेव को भेंट किये और बिना विलंब किये डुगवा ग्राम की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचने पर आनंददास खेची ओर जयदेव ने उनका स्वागत-सत्कार किया। सभी यथाविधि पलते राजकुमार अजीतसिंह को देखा और एक-दूसरे से विदा लेकर अपने घरों की ओर स्वास्थ्य तथा दल संगठन के लिए चल पड़े।

दुर्गादास अपने गाँव कल्याणगढ़ पहुँचे, अपनी माता की चरण-रज लेकर छोटे भाई जसकरण और पुत्र तेजकरण से मिले। सबको दिल्ली के संघर्ष, अपनी स्थिति और उनके कर्तव्य के साथ देश की परिस्थिति से अवगत कराया। फिर एक दिन विश्राम लेकर

भाई और बेटे को आस-पास जन जागरण, संगठन तथा तैयारी के कर्तव्य पर लगाकर स्वयं घोड़े पर सवार होकर आवागढ़ कोट में शोनिंगजी चंपावत से मिलने के लिए चल दिए, जिन्हें उन्होंने महाराज जसवंतसिंह की दी हुई पेटी सौंपकर पेशावर से दिल्ली चलते समय घर भेज दिया था।

देश में चारों ओर मुगलों का अत्याचार तथा आतंक छाया हुआ था। जिधर देखो उधर ही मुगल सैनिक हिंदुओं को मारते और लूटते घूम रहे थे। मार्गों, घाटों और नाकों पर मुगलों की चौकियाँ बनी हुई थीं। कहीं पर भी किसी समय प्राणों का संकट आ सकता था, किंतु वीर दुर्गादास जंगलों, पर्वतों, नदी, नालों और औघट पार करते हुए अपना घोड़ा दाबे, हाथ में तलवार लिए चौकन्ने और चौकस बने चले जा रहे थे। देश और धर्म की रक्षा का भाव उनमें उत्साह और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का साहस, स्फूर्ति बनकर उनकी नस-नस में बिजली के समान दौड़ रहा था। उन्हें अपने लक्ष्य के सामने न तो मार्ग की कठिनाइयाँ भारी लग रहीं थीं और न शत्रु का भय उन्हें रोमांचित करता था। एकनिष्ठ भाव से वे आवागढ़ कोट की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

आधी रात गये वे गंतव्य पर पहुँचकर शोनिंगजी चंपावत से मिले। देखते ही चंपावत बोल उठे—दुर्गादास ! तुम देश के लिए बहुत मूल्यवान् हो, मारवाड़ की स्वतंत्रता के एक मात्र आशा केंद्र हो। तुम्हें ऐसा साहस नहीं करना चाहिए, जिससे प्राणों पर आ बने। मार्गों पर, स्थान-स्थान पर शत्रुओं की चौकियाँ बनी हैं। मुगल सिपाही भूखे भेड़ियों की तरह देश-भक्त राजपूतों की तलाश में चारों ओर घूम रहे हैं। मेरे लिए कोई संदेश था, तो किसी दूसरे के हाथ भेज सकते थे। अपने को इस प्रकार खतरे में डालना ठीक नहीं था। तुमने आकर दर्शन दिए, यह तो मेरा सौभाग्य है, तब भी तुम्हारा इस प्रकार अकेले आना मुझे अच्छा नहीं लगा। तुम्हें रास्ते में कुछ हो जाता तो स्वतंत्रता की यह शिखा निराधार हो जाती।"

वीर दुर्गादास ने इस सहानुभूति और चिंता के लिए धन्यवाद देकर कहा—"भाई चंपावत जी ! मैं अपनी ही तरह देश के एक-एक

राजपूत को मूल्यवान् समझता हूँ। अपना महत्त्व बढ़ाकर घर में रहना और दूसरों को संकटपूर्ण कर्तव्य सौंपते रहना, मैं एक कायरतापूर्ण नेतृत्व मानता हूँ। जब देश, धर्म की पुकार पर सिर से कफन ही बाँध लिया और जीवन की मोह रज्जु को काट दिया है, तब कर्तव्य पथ पर संकट की चिंता क्या करना ? इस समय घर-बाहर सब जगह ही संकट छाया हुआ है। इस समय रक्षा की संभावना घर में ही नहीं, बलि पथ पर प्रतिक्षण प्रस्तुत रहने में है। अपना महत्त्व मानकर अपने को छिपाते फिरने का अर्थ है, कायरता, अकर्मण्यता और अयोग्यता को जीवन में अवसर देना। छिप-छिप कर रहने से कैसे तो देश की दशा का परिचय मिलेगा, कैसे उसकी सेवा करने का अवसर और कैसे संगठन के साथ शत्रुओं को यह बतलाने का संयोग मिलेगा कि अब अपना अत्याचार बंद कर दो। वीरों का सोया साहस और शांति की प्रतीक्षा में साधुवाद में पड़ा उनका शौर्य उदीप्त हो उठा है और अब वह तभी विश्राम लेगा, जब मारवाड़ स्वतंत्र हो जायेगा और भारत पर छाये अन्याय और आतंक के बादल नष्ट हो जायेंगे।"

दुर्गादास की इस वीर घोषणा से शानिंग जी का मन-मयूर नाच उठा—वे बोले—"धन्य है वीर ! तुम्हें पाकर आज भारतीय वीरों की परंपरा कृतार्थ हो गई। यह बात ठीक है कि आज घर बैठकर शांतिवाद की उपासना करते रहने से काम न चलेगा। धरती बलिदान माँग रही है। मैदान में ही निकलना होगा। शत्रु से लोहा लेने के सिवाय उपस्थित अपमान और लज्जाजनक परिस्थितियों से निस्तार पाना कठिन है। तुम्हारे दिल्ली से चले आने और राजकुमार अजीतसिंह के न मिलने पर औरंगजेब ने गाँव-गाँव राजपूत सरदारों को मारने और गिरफ्तार करने का आदेश जारी कर दिया है। आवागढ़ कोट पर कई बार बिजली टूट चुकी है। अभी और भी टूटेगी। मेरे जीवन का कोई ठिकाना नहीं। अपनी धरोहर वह पेटी ले लो और कल्याणगढ़ आज ही लौट जाओ। जिससे मैं जीवन से प्राणों का महत्त्व निकालकर संगठन और संघर्ष में लग जाऊँ।

दुर्गादास पेटी लेकर जब कल्याणगढ़ की ओर सरपट घोड़ा भगाए चले जा रहे थे। तभी रास्ते में उन्होंने देखा कि मुगलों का एक दल एक अकेला राजपूत पर टूट पड़ा है। पहले तो उन्होंने सोचा कि यह मूल्यवान् धरोहर लेकर रास्ता बचा जाये और संघर्ष में न पड़कर खतरा मोल न ले। आगे के बड़े संघर्ष के लिए जाकर तैयारी करें। किंतु तत्काल ही उनकी अंतरात्मा बोल उठी—"छिः दुर्गादास ! विपत्ति में पड़े व्यक्ति की उपेक्षा कर तुम आगे की सोच रहे हो ? जो प्रस्तुत छोटे से संघर्ष से कटकर निकल सकता है, वह कैसे यह आशा कर सकता है कि वह बड़े संघर्ष के उपस्थित होने पर कोई दूसरा बहाना न निकाल लेगा ? आगे जाकर यदि तुम घोड़े से गिरकर या शत्रुओं से घिरकर भविष्य के लिए शेष न रहो, तो क्या इस समय के इस पुण्य-परमार्थ से भी वंचित न रह जाओगे। संदिग्ध भविष्य का क्या भरोसा और क्या भरोसा इस अनिश्चित जीवन का ? आगे बढ़ो और आपत्तिग्रस्त व्यक्ति की रक्षा का पुण्य प्राप्त करो।"

विचार के साथ ही दुर्गादास की तलवार म्यान से बाहर आ गई। उन्होंने ललकारा—कायरों सँभल जाओ ! एक अकेले पर तुम झुंड के झुंड जंगली कुत्तों की तरह क्या टूट रहे हो ?" आवाज सुनकर मुगलों का ध्यान उधर गया। युद्धरत राजपूत का साहस बढ़ा और उसने एक आन में अनेकों का सफाया कर दिया। किंतु अब तक पूरी तरह से घायल और अशक्त हो गया था, गिर पड़ा। दुर्गादास की तलवार चमकी और उन्होंने जल्दी ही उन आततायियों का जंगल साफ कर दिया। केवल एक यह चिल्लाता हुआ भाग गया। दौड़ो-दौड़ो, दुर्गादास है, मदद करो। उसने कटालिया के सरदार और उसके पचास आदमियों को मार डाला है।"

अंधेरा हो चला था, तब भी दुर्गादास ने पहचान लिया कि घायल पड़ा राजपूत महासिंह है। उन्होंने जल्दी से उसे घोड़े पर लिया और पवन वेग से चल पड़ा। घर पहुँचने पर जब माँ ने उन्हें रक्त से नहाया देखा, तो आँसू रोककर कहा— क्या रास्ते में मुगलों से टक्कर हो गई ? दुर्गादास हँसे और बोले—यह तो अब

कदम-कदम पर होना ही है माँ ! इस पर कहाँ तक ध्यान दिया जायेगा ?

अभी महासिंह को होश में ही कर पाया था कि सैकड़ों मुगलों ने आकर घेर लिया। माँ ने जबरदस्ती सबको एक अंधेरे कुएँ में छिपाकर दरवाजा खोला और बाहर आकर कहा—"क्या है, तुम सब किसलिए यहाँ आये हो ?" मुगलों के सरदार शमशेर खाँ ने कहा—"बुढ़िया तेरा बेटा दुर्गादास कहाँ है ? मैं उसे गिरफ्तार करने आया हूँ, वह बागी और कातिल है।" माँ ने दृढ़तापूर्वक कहा—"तुझे उसका पता नहीं मिलेगा। चला जा यहाँ से। बड़ा आया मेरे बेटे को हत्यारा बताने वाला।"

शमशेर खाँ ने दाँत पीसकर कहा—"बुढ़िया सीधी तरह उसका पता बतला दे, नहीं तो अभी मौत के मुँह में चली जायेगी।" "सिंहनी को मौत का भय दिखलाता है कायर—नाथू मेरी बरछी तो ला"—माता ने नौकर को आवाज दी। इसके पहले कि नाथू बरछी माता के हाथ में दे पाता, शमशेर खाँ ने वार कर दिया। माता का स्वाभिमानी शीश कटकर भूमि पर गिर गया। नाथू बरछी लेकर झपटा कि दस-बारह सिपाहियों ने उस पर एक साथ हमला करके बलिदान कर दिया। शमशेर खाँ यों ही मकान के इधर-उधर झाँक कर यह सोचता हुआ चल दिया कि यदि दुर्गादास घर में होता, तो वह माँ के मारे जाने पर छिपा नहीं बैठा रहता। राजपूत इतना बुजदिल नहीं होता।

दुर्गादास अपने साथियों के साथ अंधे कुँए में यह सोचते बैठे रहे कि मुगल माँ से पूछ-ताछ करके और ज्यादा से ज्यादा घर देखकर चले जायेंगे। उन्हें स्वप्न में भी यह शंका न थी कि बहादुरी का दावा रखने वाले मुगल सरदार किसी वृद्ध माता पर भी हाथ उठा सकते हैं। किंतु आर्य और अनार्य, वीर और बर्बर के आदर्शों में अंतर होता है—यदि यह बात दुर्गादास समझ सके होते तो माँ को मरने के लिए अकेला छोड़कर कुएँ में न बैठे रहते। असाधु पर साधु आदर्शों का आरोप करना भारी भूल है। यही भूल दुर्गादास से हुई और माता मारी गई।

कोलाहल शांत हो जाने पर, जब बहुत देर तक सन्नाटा छाया रहा, तब दुर्गादास ने समझ लिया कि मुगल चले गये हैं। किंतु माता या नाथू ने अभी आवाज क्यों नहीं दी ? दुर्गादास आशंका से सिहर उठे। वे जैसे-तैसे कुएँ के गड्ढों और कगारों का सहारा लेकर बाहर निकले, जल्दी-जल्दी सबको निकाला और देखा। माँ जी और नाथू दोनों मरे पड़े हैं। दुर्गादास पर बिजली टूट पड़ी, उन्हें अपने समझ का अपार दुःख हुआ। तभी नाथू ने अस्फुट स्वर में कहा—"मालिक—शमशेर खाँ—कटालिया का सरदार।" बस, उसके बाद उसकी न तो आवाज निकली और न कोई श्वास लौटी। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। वीर दुर्गादास ने आँसू रोककर प्रतिज्ञा की—जब तक शमशेर खाँ को यमपुर न पहुँचा दूँगा—अन्न-पानी ग्रहण न करूँगा। जो मेरी बूढ़ी माता को मार सकता है। वह न जाने कितनी अबलाओं को और भी मार सकता है—शमशेर खाँ, तुझे इस संसार में जीने का कोई अधिकार नहीं है।"

दुर्गादास ने माता और नाथू का दाह-संस्कार किया और भाई तथा बेटे को लेकर कटालिया की ओर चल पड़े। रास्ते में जब वे पटेलों की बस्ती में पहुँचे, तो वहाँ के राजपूतों को ललकार, कल्याणगढ़ की घटना बतलाई और देश-धर्म की लाज के लिए कटिबद्ध होने के लिये प्रेरित किया। लगभग सौ-सवा सौ राजपूत उनके साथ मरने-मारने को चल दिये। दुर्गादास कटालिया पहुँचे। रात हो चुकी थी। पर वे सीधे गढ़ी पर गये। कुल्हाड़ी के वार से द्वार तोड़ डाला और भीतर घुस गये। अन्य राजपूत गढ़ी घेरकर खड़े हो गये। दुर्गादास घायल सिंह की तरह शमशेर खाँ के कमरे में गये। वह सो रहा था। उन्होंने उसे आवाज दी, "सरदार शमशेर खाँ उठो ? तुम्हारी मौत आई है।" आवाज सुनकर शमशेर खाँ हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ और भौचक्का-सा दुर्गादास की ओर देखने लगा। दुर्गादास ने फिर कहा—"पहचाना शमशेर खाँ ! मैं वही दुर्गादास हूँ, जिसकी तुम्हें तलाश थी और जिसकी निरपराध माता को तुम तलवार से मार आये हो। अब अपनी वही तलवार निकाल लो ! राजपूत निहत्थे अथवा असावधान शत्रु पर वार नहीं करते। केवल

कुछ क्षणों का समय है। तलवार ले लो। नहीं तो फिर तुम्हारे निहत्थे मारे जाने की जिम्मेदारी हम पर नहीं होगी ? हम ज्यादा समय नहीं दे सकते ? धरती तुम्हारे बोझ से भारी हो रही है।" लेकिन शमशेर खाँ खड़ा-खड़ा खोया-सा देखता ही रहा। मौत को सम्मुख देखकर कायर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। दुर्गादास बोले—"मैंने चाहा था कि तू बहादुर की मौत मरे ? लेकिन, तेरा पाप तुझे कुत्ते की मौत मरने को मजबूर कर रहा है ?" कथन के साथ ही वीर दुर्गादास की तलवार चमकी और शमशेर खाँ का सिर उसकी मखमली मसनद पर, रंग-भरे लोटे की तरह लुढ़क गया। वीर की प्रतिज्ञा पूरी हुई।

शमशेरखाँ की मृत्यु ने जहाँ दुर्गादास की वीरता की धाक चारों ओर फैला दी, वहाँ औरंगजेब की नींद हराम कर दी। उसने राज्य-भर में दुर्गादास को जिंदा या मुर्दा पकड़कर लाने की घोषणा कर दी। दुर्गादास अरावली की पहाड़ियों में अपने साथियों के साथ चले गये। वे वहाँ अगली योजनाओं पर विचार करते थे। कंद-मूल-फलों पर गुजर करते थे, पहाड़ी रास्तों तथा गुफा, कंदराओं की खोज भी। इधर मुगलों के एक बड़े दल ने अरावली के चारों ओर घेरा डालकर निकलने के सारे रास्ते बंद कर दिये।

कुछ ही समय बाद राजपूतों के साथ दुर्गादास के सम्मुख भोजन की समस्या खड़ी हो गई। फल-फूलों का भी अभाव हो गया। बाहर जाने के रास्ते बंद थे, कोई सहायता आने की संभावना नहीं थी। राजपूत सरदार भूखों मरने लगे। दुर्गादास के दुःख का ठिकाना न रहा। उन्हें निराशा के विचार घेरने लगे। एक दिन उन्होंने सारे साथियों को इकट्ठा किया और कहा—

"भाइयों ! अब हम पर ठीक वही संकट आ गया है, जो कभी मेवाड़ की स्वतंत्रता में महाराणा प्रताप पर आया था। अब हम सबको भी उन्हीं की तरह घास की रोटियाँ खा-खा कर अपने मारवाड़ की स्वतंत्रता के लिए प्राण दे देने होंगे ? परिस्थितियाँ यह सोचने पर विवश करती हैं कि बाहर से कोई सहायता न मिल सकेगी। हो सकता है कि अरावली पर मुगल सेना का आक्रमण हो और तब हम इने-गिने लोगों को उनसे लड़कर बलिदान हो जाना हो। ऐसी दशा में

मेरी बुद्धि काम नहीं देती कि क्या उपाय किया जाये ? ऐसा लगता है कि देश में संगठन और स्वतंत्रता का सारा प्रचार तथा प्रयत्न व्यर्थ चला गया। राजपूत फिर मोह निद्रा में निमग्न हो गये हैं। अब लोग जैसा ठीक समझें करने के लिए स्वतंत्र हैं ?"

दुर्गादास की निराशा देखकर रामसिंह उदावत ने कहा—"वीर इस प्रकार की निराशा ठीक नहीं। जन हित के बड़े-बड़े कामों में कभी-कभी निराशाजनक परिस्थितियाँ आ जाती हैं, लेकिन पुरुषार्थी व्यक्ति उनसे प्रभावित नहीं होते। वे साहसपूर्वक धैर्य रखकर प्रयत्न तथा प्रतीक्षा करते और अंत में मार्ग पा लिया करते हैं। देश में संगठन तथा स्वतंत्रता की रक्षा का किया गया प्रयत्न तथा प्रचार कभी निष्फल नहीं जा सकता ? मुझे विश्वास है कि जल्दी ही कोई मार्ग निकलेगा और हम सब लोग पुनः उस पर चलकर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

रूपसिंह उदावत अभी निराशापूर्ण वातावरण में आशा एवं उत्साह का संचार कर ही रहा था कि तब तक लगभग सौ आदमियों के साथ एक अरथी अरावली की पहाड़ियों पर चढ़ती दिखलाई दी। सभी लोग उसकी तरफ बढ़ गये। पास पहुँचने पर लोगों ने अरथी उतारी और सभी ने दुर्गादास और उनके साथियों को राम-जुहार कर अरथी खोल डाली। सबके हर्ष और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अरथी पर मुरदे के स्थान पर एक राजपूत सरदार गंभीरसिंह था और उसके साथ आये लोग राजपूत सिपाही ? उन्होंने बतलाया कि शमशेर खाँ के मारे जाने पर कैसे सब तरफ लोगों को हर्ष एवं उत्साह की प्राप्ति हुई और कैसे तमाम राजपूत कटालिया आपकी सहायता के लिए गये। किंतु जब पता चला कि आप अरावली की पहाड़ियों में चले गये हैं, तो हम लोगों ने यह तरकीब निकाली और घेरा डाले पड़े मुगलों को मुरदे का विश्वास दिलाकर आपकी तलाश में यहाँ आ गये। आप सब लोग सौभाग्य से मिल गये। अब चलिए स्थान-स्थान पर राजपूतों के दल के दल आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अत्याचारियों से खुला युद्ध छेड़ दिया जाये।" तत्क्षण ही सारी निराशा उत्साहपूर्ण वीर भावना में बदल गयी। सभी अपने-अपने

हथियार सँभालकर हर-हर महादेव के घोष के साथ अरावली से उतरे और मुगलों को काट-काटकर राजपूत सेना में आ गये।

वीर दुर्गादास ने अरावली की तलहटी में जमा राजपूत सेना का यथोचित संगठन किया और उत्साहपूर्ण भाषण के पश्चात् कहा—"अब इस प्रकार विशृंखलित रूप से युद्ध करने से काम न चलेगा, अब तो कोई न कोई दुर्ग जीतकर अपना स्थायी स्थान बनाना होगा और तब वहाँ से आगे की योजनाओं पर चलना होगा ? सभी ने उनसे सहमत होकर पास के सोजीतगढ़ पर अधिकार कर लेने का परामर्श दिया। बस फिर क्या था, एक संगठित हो पाने के साथ राजपूत वीर सोजीतगढ़ पर चढ़ गये और वहाँ के बर्बर मुगलों को परास्त कर गढ़ी पर राजपूतों का जयध्वज फहरा दिया।

सोजीतगढ़ की विजय में राजपूतों ने वीरता, बलिदान तथा विजय के विश्वास का ज्वार भर दिया। चारों ओर से राजपूत सरदार, जागीरदार और रजवाड़े अपनी-अपनी सेनायें ले-लेकर आने और सोजीतगढ़ में एकत्र होने लगे। जोधपुर चढ़ाई की योजना बनी। तभी गंभीरसिंह ने परामर्श दिया कि—"सोजीत के राजपूत परिवारों की स्त्रियाँ और बच्चे किसी सुरक्षित स्थान पर भेज दिये जायें, क्योंकि अब सोजीतगढ़ हम लोगों का मुख्य गढ़ ही नहीं शक्ति और संगठन का केंद्र बनेगा। इस पर किसी समय भी मुगलों का आक्रमण हो सकता है।"

बात उपयुक्त थी। सबकी समझ में आ गई। वीर दुर्गादास अपने कुछ साथियों के साथ परिवार की महिलाओं को लेकर वाली की ओर इस मंतव्य से स्वयं चल दिए कि उन क्षेत्रों के राजपूतों को स्थिति से परिचित कराकर युद्ध का निमंत्रण भी देते आयेंगे। उधर दुर्गादास ने प्रस्थान किया और इधर देसुरी के राजपूत सोजीतगढ़ की विजय और स्वातंत्र्य सेना में सम्मिलित होने के लिए उत्सव और उल्लास मनाने लगे। किंतु वहाँ के शासक इनायत खाँ ने सारे मुख्य-मुख्य राजपूतों को बंदी बनाकर मौत के घाट उतरवा दिया। देसुरी में अन्याय और अत्याचार का आतंक छा गया। दुर्गादास को वाली में यह समाचार मिला, तो वहीं से अपने साथियों और उद्यत

राजपूतों की एक टुकड़ी लेकर देसुरी की ओर चल दिये। देसुरी पहुँचने पर रात हो गई थी। किंतु वीर दुर्गादास ने विश्राम करना अपने लक्ष्य के प्रति विश्वासघात समझा और उन्हीं पैरों देसुरी के किले पर आक्रमण कर दिया। इनायत खाँ को यमपुरी भेजकर किले पर विजय का झंडा फहरा दिया। देसुरी के सारे राजपूत दुर्गादास के अनुगामी हो गए।

वीर दुर्गादास देसुरी का प्रबंध एक सरदार को सौंपकर रक्षा के लिए दो हजार सेना रखकर बाकी सोलह-सत्रह हजार सेना लेकर सोजीतगढ़ आकर जोधपुर पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे। जोधपुर पर इस समय औरंगजेब की पूरी ताकत लगी हुई थी। उसके देखते राजपूतों की यह सेना कम थी। तब भी वीर दुर्गादास न्याय, सत्य तथा विजय के अखंड विश्वास के साथ जोधपुर की ओर कूच करने को उद्यत हो गये।

जोधपुर की ओर कूच होने वाला ही था, कि तब तक महाराज उदयपुर की तीस-चालीस हजार सेना राजकुमार जयसिंह के साथ आकर उपस्थित हो गई। जयसिंह ने दुर्गादास से मिलकर बताया, आपके इस देश-सेवा के कार्यों में अभूतपूर्व बलिदान देखकर सारे राजपूत रजवाड़े जाग उठे हैं। सभी आपके नेतृत्त्व में देश की स्वतंत्रता के लिए बलिदान में भाग लेने को उत्सुक हो गये हैं। मुझे तुम्हारे जोधपुर अभियान का समाचार मिला और मैं तत्काल सेना लेकर उदयपुर से चल पड़ा। यथाशीघ्र जोधपुर पर धावा बोल ही देना चाहिए।"

हर-हर महादेव की ध्वनि के साथ कूच का डंका बजा और वह पचास हजार की राजपूतवाहिनी जोधपुर की ओर चल पड़ी। दुर्गादास ने सारी सेना पाँच भागों में बाँटकर उनका नायक जयसिंह, मानसिंह, करणसिंह, जसकरण और केसरीसिंह को बनाकर स्वयं प्रधान सेनापतित्त्व ग्रहण किया, एक दिन और एक रात की यात्रा के बाद राजपूत सेना जोधपुर की सीमा पर पहुँचकर रुक गई। चारों ओर से जोधपुर को घेरकर मोर्चाबंदी कर दी गई और दूसरे दिन सबेरे ही लड़ाई का डंका बजा दिया गया।

घमासान संग्राम शरू हो गया। एक ओर अन्याय और अत्याचार की भावना थी और दूसरी ओर स्वतंत्रता, देश-प्रेम तथा कर्तव्य का उत्साह था। विजय सत्य की ही होती है। फिर चाहे उसके पक्ष में कम लोग ही क्यों न हों। कई दिन तक अविराम युद्ध होता रहा। अंत में मुगलों के सेनापति दिलावर खाँ ने हथियार डाल दिए और कूटनीति से काम लिया। उसने वीर दुर्गादास के पास संधि का प्रस्ताव भेजते हुए कहलवाया कि अब लड़ाई बंद करा दी जाए। मैंने बादशाह के पास संधि की स्वीकृति के लिए प्रार्थना भेजी है। आशा है, मंजूर हो जायेगी। फिर भी यदि तीन दिन तक कोई उत्तर न आया, तो मैं जोधपुर आपके हवाले कर दूँगा।

दुर्गादास ने बात मानकर लड़ाई बंद कर दी और थके तथा घायल राजपूत विश्राम तथा मरहम-पट्टी करने लगे। इधर दुर्गादास ने सरदारों को एकत्र कर संधि-प्रस्ताव पर विचार करना प्रारंभ किया। सभी लोग विचार करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अन्यायी शत्रु पर विश्वास न किया जाए। हो सकता है कि उसने संधि के प्रार्थना के बजाय बादशाह के पास सहायता के लिए संदेश भेजा हो। ऐसी दशा में यदि असावधान रहा गया तो धोखा हो सकता है और जीत, हार में बदल सकती है। अच्छा हो कि दिल्ली से जोधपुर के सारे मार्गों और नाकों पर फौज लगा दी जाए, जिससे यदि दिलावर खाँ ने छलपूर्वक हमको युद्ध से विरत कर कुमुक मंगाई हो, तो उसे रास्ते में ही रोककर जोधपुर पर अपना कब्जा कर लिया जाए। सलाह सबको पसंद आई और दिल्ली, जोधपुर के रास्ते रोक राजपूत सेना पहाड़ियों में छिपा दी गई।

अनुमान ठीक निकला। दिल्ली से सत्तर हजार सेना तीन भागों में जोधपुर की ओर आ रही थी। अगली टुकड़ी का सेनापति सरदार मुहम्मद खाँ था, दूसरी का तहब्बर खाँ और तीसरी टुकड़ी शहजादा अकबर शाह के साथ आ रही थी।

कुछ ही देर बाद मुहम्मद खाँ का दल बादशाही झंडा लहराता हुआ आ पहुँचा। राजपूतों ने अवसर पाते ही आक्रमण कर दिया।

युद्ध प्रारंभ होते ही राजपूतों की तलवारें बिजली बनकर चमकने लगीं। भयानक मार से अन्याय का साथ देने के लिए आई हुई मुगल सेना भाग खड़ी हुई। मुहम्मद खाँ दुर्गादास की तलवार का आखेट बना। राजपूतों ने मुगल सेना को घेरकर बंदी ही बनाया था कि तहब्बर खाँ का दल आ पहुँचा। राजपूतों की ताजी टुकड़ी गुफाओं और कंदाराओं से निकलकर उस पर टूट पड़ी और जल्दी ही उसकी भी वही दशा कर दी, जो पहले शत्रु दल की हुई थी। अंतर केवल इतना रहा कि पहली टुकड़ी का सरदार मुहम्मद खाँ मारा गया था, किंतु इसका तहब्बर खाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। वह बंदी बना लिया गया।

एक रात बीतने के बाद अकबर शाह का दल पहुँचा। उसे रास्ते में ही पहले दोनों टुकड़ियों की दशा का समाचार मिल चुका था। अस्तु उसने घेरा पड़ते ही आत्म-समर्पण कर दिया। अधर्म पर धर्म की और अन्याय पर सत्य की विजय हुई।

वीर दुर्गादास लौटकर जोधपुर पर पुनः टूट पड़ा। किंतु अधिक युद्ध न करना पड़ा। जोधपुर के मुगल शासक दिलावर खाँ ने जोधपुर की सत्ता दुर्गादास को सौंप दी। इस प्रकार एक लंबे संघर्ष और बलिदान के बाद परतंत्र हुआ जोधपुर स्वतंत्र हुआ। राजधानी से बादशाही झंडा उतारकर राजपूती झंडा फहरा दिया गया।

सरदारों ने उत्सव और समारोह मनाने का उत्साह प्रकट किया। किंतु दुर्गादास ने सबको धैर्य रखने के लिए कहकर सारा प्रबंध व्यवस्थित किया और बादशाह से युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्होंने कहा—अभी विजय अधूरी है। बादशाह का अंतिम आक्रमण होना है, साथ ही पूरा मारवाड़ स्वतंत्र कराना है। अभी उत्सव का समय नहीं आया है।

वीर दुर्गादास का कथन चरितार्थ हुआ। कुछ दिनों बाद ही बादशाह औरंगजेब ने ढाई लाख सेना से जोधपुर पर चढ़ाई की। यह समाचार राजपूताने और संपूर्ण मारवाड़ में आग की तरह फैल गया। वहाँ के सारे राजे-महाराजे और देश-भक्त दुर्गादास की सहायता के लिए आ-आकर जोधपुर में जमा होने लगे। देखते ही देखते राजपूतों

की कई लाख सेना एकत्र हो गई। बादशाह औरंगजेब आया। किंतु राजपूत सेना ने उसे रास्ते में ही धर दबाया। बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। पचास हजार सेना का बलिदान हो गया, किंतु राजपूत अपने प्राणों की बाजी लगाकर लड़ते रहे और अंत में उन्होंने देववाड़ी की पहाड़ियों में मुगल सेना को धर दबाया और भयंकर युद्ध का मार्ग खोल दिया। औरंगजेब घबरा गया। उसने अपना झंडा गिरा दिया और किसी प्रकार सारी सेना को अन्नाथ छोड़कर गुफाओं, कंदराओं और जंगलों में छिपता हुआ कुछ सरदारों के साथ दिल्ली की ओर भाग गया। दुर्गादास की पूर्ण विजय हुई। उन्होंने मारवाड़ के सारे राज्यों को स्वतंत्र कर जोधपुर में एक विशाल सभा की। उस सभा में देश के लगभग सभी हिंदू राजा एकत्र हुए। सभा में दुर्गादास ने कहा—आज, अब थोड़ा-सा काम छोड़कर मेरा कर्तव्य पूरा हो गया है। मारवाड़ स्वतंत्र हो गया, अब शेष देश को स्वतंत्र कराने की बारी है। यह बात सही है कि अब मेरा शरीर अधिक सेवा के योग्य नहीं रहा है, तथापि देश में हजारों दुर्गादास पैदा होंगे और एक इस दुर्गादास से सैकड़ों गुना प्रयत्न कर मातृ-भूमि भारत को आततायियों से मुक्त करायेंगे।

सारी सभा और राजाओं ने वीर दुर्गादास को एक ऊँचे आसन पर बिठाकर पूजा की और चाहा कि जोधपुर की गद्दी पर उनका तिलक कर दिया जाए। तभी वे उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले—इसका अधिकारी मैं नहीं। इसका अधिकारी महाराज जवसंतसिंह का पुत्र अजीत सिंह है, जो गुप्त रूप से डुगवा ग्राम में पाला जाता रहा है और अब जिसे मैंने यहाँ बुला लिया है। आप लोग उत्तराधिकारी राजकुमार का राज्याभिषेक करें।

इतना कहकर वीर दुर्गादास ने अजीतसिंह को बुलाकर गद्दी पर बिठाया और विधिवत् राज-तिलक कराकर महाराज जसवंतसिंह की लोहे की पेटी खोली। उसमें से जोधपुर का पैतृक राजमुकुट निकाला, जिसे दुर्गादास ने अपने हाथों राजकुमार अजीतसिंह को पहनाकर प्रणाम किया। सभी ने महाराज अजीतसिंह की जयकार की और एक स्वर से उसे जोधपुर का राजा और मारवाड़ का महाराज स्वीकार कर भेंट दीं।

वीर दुर्गादास ने पुनः हाथ जोड़कर सबसे कहा—आज मेरा व्रत, मेरी प्रतिज्ञा और मेरा कर्तव्य पूर्ण हुआ, इसके लिए भगवान् तथा आप सब लोगों के साथ दिवगत वीरों को धन्यवाद तथा श्रद्धांजलि देता हूँ। अब इस संसार में मेरा कोई कर्तव्य शेष नही रह गया है। शेष जीवन भगवत भजन में लगाकर परलोक का चिंतन करूँगा। मैं आज अभी ही काशी जा रहा हूँ। इतना कहकर वह विजयी वीर चल पड़ा।

दुर्गादास ने देश-रक्षा के लिए जो आत्म-त्याग किया था और युद्ध-क्षेत्र में जो अनुपम वीरता दिखलाई थी, वह तो इतिहास में प्रसिद्ध ही है और अनेक लेखकों ने उसका प्रेरणादायक वर्णन किया है, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता हमको यह निःस्वार्थता और निस्पृहता ही जान पड़ती है। जबकि वर्तमान समय के 'देश-भक्त' कोई झूठ-मूठ का सेवा कार्य कर देने पर भी अपना नाम का डंका पिटवाना चाहते हैं और उसके बदले में किसी ऊँचे पद या धन-मान की अभिलाषा रखते हैं—अनेक बार तो उसके लिए निर्लज्जतापूर्वक दूसरों से लड़ते-झगड़ते और नीच कृत्य करने पर भी उतारू हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को वीर दुर्गादास के चरित्र से यह शिक्षा मिल सकती है कि परोपकार और सेवा का सच्चा महत्त्व तभी होता है, जब निःस्वार्थ भावना से किया जाए और किसी प्रकार के बदले की अभिलाषा न रखी जाए। ऐसा होने पर ही उनको स्थायी प्रतिफल प्राप्त हो सकेगा। यदि दुर्गादास अपनी सेवा के बदले कोई बड़ी जागीर या मारवाड़ की गद्दी प्राप्त कर लेते, तो उनका नाम यश उससे चौथाई भी सुनने में नहीं आता, जो उनको प्राप्त हो चुका है। यद्यपि वे महाराज जसवंत सिंह के एक साधारण जागीरदार थे और जिन महाराज अजीतसिंह को उन्होंने गद्दी पर बिठाया था, उन्होंने भी उनका कुछ सम्मान न किया, पर आज उन दोनों महाराजाओं का नाम कोई नहीं लेता, पर दुर्गादास को एक राष्ट्र-रक्षक के रूप में पूजा जाता है। ऐसा स्थायी और सार्वजनिक सम्मान देश और समाज के सच्चे सेवकों को ही मिला करता है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)